हिताभिर्जुहुयान्नित्यम्

डॉ. विश्वावसु गौड
असिस्टेंट प्रोफेसर,
महात्मा ज्योतिबा फुले आयुर्वेद महाविद्यालय,
हाड़ोता, चौमू, जयपुर (राजस्थान)

(म.म. राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़
पूर्व कुलपति,
डॉ. एस. आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर
पूर्व निदेशक - राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

शरीर का एक सामान्य स्वरूप है जिसमें शरीरस्थ सभी प्रकार के धातुओं, मलों, दोषों तथा अन्य तत्त्वों का एक नियत मान में रहना आवश्यक है | यदि ये अपने मान में न रहकर न्यून या अधिक मात्रा में होते हैं तो वह धातुओं का वैषम्य कहलाता है जो कि विकार का सूचक है। यह शरीर स्वैच्छिक या अनैच्छिक रूप से निरन्तर क्रियाशील रहता है जिसके कारण इसमें निरन्तर शीर्णन होता है | इस शीर्णन के कारण ही शरीरस्थ धातुओं का क्षय होता है। अतः शीर्यमाण शरीर में जिन जिन धातुओं का एवं विभिन्न तत्त्वों का क्षय होता है उस क्षय की पूर्ति के लिए शरीर इस प्रकार के तत्त्वों से युक्त अन्नपान की आकाङ्क्षा करता है तब शरीरधारी उस प्रकार के तत्त्वों से युक्त आहार, औषधि या विहार को प्राप्त कर लेने पर उस उस क्षय को दूर कर लेता है, जैसा कि आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि-

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः ।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ।।
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः ।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति ।। (सुश्रुत. सूत्र. 15/29-30)

इसमें आचार्य के द्वारा एक विशिष्ट सङ्केत दिया गया है कि शरीर में किसी भी प्रकार का क्षय हो तो वह शरीरधारी उसकी आकाङ्क्षा को प्रकट करता है | इस आकाङ्क्षा को वह विभिन्न लक्षणों से प्रकट करता है, ये लक्षण दो प्रकार के होते हैं- एक स्वसंवेद्य और दूसरे परसंवेद्य। स्वसंवेद्य लक्षणों में क्षुधा, पिपासा, निद्रा, आलस्य, श्रम, क्लम इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके उत्पन्न होने पर व्यक्ति उनके अनुरूप कार्य करने का प्रयत्न करता है।

परसंवेद्य लक्षण वे हैं जो विभिन्न हेतुओं के कारण शरीर में होने वाले वाली विशिष्ट सम्प्राप्ति-प्रक्रिया के माध्यम से उत्पन्न होते हैं जिन्हें व्यक्ति स्वयं नहीं पहचान सकता है, अतः ऐसे लक्षणों को विशेषज्ञ व्यक्ति जो कि चिकित्सक

या अन्य तज्ज्ञ व्यक्ति होता है वह उन लक्षणों को पहचानता है, अतः इस प्रकार की प्रक्रिया करनी पड़ती है कि वे लक्षण यथोचित प्रक्रिया करने के बाद शान्त हो जाएं।

यहाँ ध्यान देने योग्य विशिष्ट बात यह है कि केवल धातु आदि के क्षय से ही नहीं अपितु उनकी अनावश्यक रूप से अभिवृद्धि से भी शरीर असहज होता है जिसे वह विकृति के माध्यम से प्रकट करता है। विभिन्न रोगों की उत्पत्ति दोष, धातु एवं मलादि की अभिवृद्धि के कारण होती है। अतः प्राथमिक रूप से व्यक्ति के स्वयं के द्वारा करणीय कार्य यह है कि वह यथासमय इन शरीरस्थ धात्वादि को व्यवस्थित रखने के लिए इस प्रकारके तत्त्वों को ग्रहण करे जिससे कि अभिवृद्ध धात्वादि सम स्वरूप में आ जाएं।

इसके लिए प्राथमिक उपाय आहार है, इस आहार की आकाङ्क्षा शरीरस्थ जाठराग्नि के माध्यम से प्रकट होती है, उस आकाङ्क्षा की पूर्ति जब आहार के माध्यम से होती है तो शरीरस्थ धात्वादि सम स्वरूप को प्राप्त करते हुए व्यवस्थित रूप से अपने-अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं। आचार्य चरक कहते हैं कि-

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ।।
शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद्विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ।। (च.चि. 15/3-4)

चरकसंहिता में जाठराग्नि के महत्त्व को निर्दिष्ट करते हुए आचार्य ने ये उपर्युक्त वाक्य कहे हैं। वस्तुतः ये वाक्य ग्रहणीदोष के प्रसङ्ग में कहे गए हैं। आचार्य चरक ने जाठराग्नि का प्रमुख स्थान ग्रहणीप्रदेश ही माना है। ग्रहणी का स्थान वर्तमानकालीन शारीर-विशेषज्ञों की मान्यता के अनुसार आमाशय (Stomach) के तत्काल बाद प्रारम्भ होता है। जब ग्रहणी में विकृति होती है तो अग्नि में भी विकृति होती है, व्याख्याकार चक्रपाणि का कहना है कि वस्तुतः ग्रहणीदोष ग्रहणी में आश्रित अग्नि का दोष ही है।

ग्रहणी अग्नि का आश्रयस्थल है और अग्नि यहाँ आश्रयी है, अतः आश्रय और आश्रयी ये दोनों अन्योऽन्याश्रयी भाव से एक दूसरे पर अपना प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। किसी भी कारण से ग्रहणी में रचनात्मक विकृति यदि होती है तो उससे तत्रस्थ अग्नि भी विकृत होती है और यदि ग्रहणी में क्रियात्मक विकृति होती है तो मूलतः वह अग्नि की ही विकृति है क्योंकि इन क्रियाओं को करने वाली अग्नि ही है ग्रहणीदोष में होने वाले लक्षण अग्नि की विकृति के परिचायक हैं।

आधुनिक चिकित्सा-वैज्ञानिक शरीरस्थ पाचक-रसों को अग्निसम्बन्धी कार्य करने वाला मानते हैं। ये पाचकरस आमाशय से ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, इस बात को आयुर्वेद के प्राचीन आचार्य और वर्तमानकालीन वैज्ञानिक समान रूप से स्वीकार करते हैं। पाचन-सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य आमाशय, ग्रहणी, आन्त्र, यकृत् और अग्न्याशय आदि के सहयोग से सम्पन्न होते हैं , इनसे निकलने वाले विभिन्न स्रावों को आधुनिक चिकित्सा-वैज्ञानिक पाचकरस मानते हैं, जबकि आयुर्वेद के आचार्य आहार की पाचन-प्रक्रिया को शरीरस्थ त्रयोदश अग्नियों के माध्यम से सम्पन्न होना मानते हैं।

प्रकृतिस्वरूप में रहते हुए इन त्रयोदश-अग्नियों अथवा पाचकरसों का कार्य गृहीत आहार के प्रत्येक अंश का समुचित पाचन करके प्रसाद एवं किट्ट भाग में विभाजन करना होता है। प्रसादभाग से धातुओं की पुष्टि होती है और किट्टभाग से कुछ अंशों में आवश्यक मलों का पोषण होकर अनावश्यक मलों का शरीर से उत्सर्जन करना होता है।

सामान्यतया विकृति बताने से पूर्व प्रकृति का निर्देश अपेक्षित रहता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि- "आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यम्" | आयु चेतना की अनुवृत्ति है (आयुः चेतनानुवृत्तिः) अर्थात् चेतना का अनुवर्तन ही आयु का लक्षण है। शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा इनका संयोग ही आयु है, अतः आहार के ग्रहण करने के बाद उसका सम्यक् विपाक होने पर शरीर का प्राकृतिक वर्ण यथोचित रूप में बना रहता है (वर्णः गौरादिः) | इसी क्रम में आचार्य बल का निर्देश करते हैं, सम्यक् परिणाम को प्राप्त आहार शरीर को बल प्रदान करता है और बल व्यायाम इत्यादि से अनुमेय शक्ति है "बलं शक्तिः व्यायामाद्यनुमेया"।

स्वास्थ्य की प्राप्ति आहार के सम्यक् परिणमन से होने वाली धात्वादि की पुष्टि एवं उनके समभाव में रहने की परिचायिका है, यह इस बात का भी द्योतक है कि समुचित सात्म्यस्वरूप हितकर आहार का सेवन करने वाले आयुष्मान् व्यक्ति में वर्ण इत्यादि की स्वाभाविकता सुस्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

शरीर में बल की सम्यक् स्थिति रहने पर स्वस्थ पुरुष में सर्वदा कठिन कार्यों को करने में अथवा कठोर परिश्रम करने में उत्साह रहता है, यही आहार शरीर को उपचित करता है जो कि सुसंगठित स्वरूप का परिचायक है। यदि आहार के परिणाम को सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो शरीर में स्थित और विशेष रूप से आयुर्वेद की दृष्टि से हृदय में स्थित सर्वधातुओं के साररूप में जिस ओज की संस्थिति मानी गई है वह आहार के सम्यक् विपाक के परिणामस्वरूप शरीर को श्रेष्ठ रूप में प्राप्त होता है।

इसी क्रम में आहार को तेज का अभिवर्धक माना गया है। सामान्य रूप में देह की ऊष्मा अथवा उत्कृष्टतम धातुओं की संस्थिति ही शरीर के तेज को अभिव्यक्त करती है, यह तेज ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को बल प्रदान करता

है। इस तेज के कारण ही व्यक्ति स्वस्थ रहते हुए सम्पूर्ण कर्मों को यथाशक्ति सम्पन्न करता है और बलस्वरूपक शक्ति का अनुप्रेरक भी यही है।

आहारवर्णन के इस क्रम में आचार्य ने जाठराग्नि को मूल मानते हुए शरीर में जिन अन्य 12 प्रकार की अग्नियों की परिकल्पना की है उनको भी बल प्रदान करने वाली यह जाठराग्नि ही है, क्योंकि गृहीत किए गए आहार में होने वाले पाञ्चभौतिक तत्त्वों का पृथक् पृथक् रूप से शरीरस्थ पाँच प्रकार की महाभूताग्नियाँ अपने-अपने अंश का परिपाक कर शरीरस्थ पाञ्चभौतिक तत्त्वों की पुष्टि करने का कार्य करती हैं। ये महाभूताग्नियाँ जाठराग्नि से ही बल प्राप्त करती हैं।

इसी प्रकार से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये जो सात धातु माने गए हैं आहार में इनकी पुष्टि के लिए भी इनसे सम्बन्धित तत्त्वों का ग्रहण जब किया जाता है तो उनका परिपाक इन धात्वग्नियों के द्वारा ही होता है। अतः इन धात्वग्नियों को व्यवस्थित रखने का उत्तरदायित्त्व भी जाठराग्नि का ही है।

इस के अतिरिक्त प्राण भी जाठराग्निमूलक ही हैं। यहाँ बहुवचन में प्रयुक्त इस प्राण शब्द से प्राण वायु के साथ-साथ उदान, समान, व्यान और अपान इन अन्य 4 वायुओं का ग्रहण कर लिया जाता है, शरीरस्थ इन पाँचों वायुओं का पोषण भी जाठराग्नि के माध्यम से ही होता है। अथवा प्राण शब्द नित्य बहुवचनान्त है अतः इस बहुवचन से अकेले प्राणवायु की पुष्टि का हेतु भी जाठराग्नि को यदि माना जाए तो कोई अनुचित नहीं है (प्राणा इति प्राणापानोपलक्षिताः पञ्चापि वायवः; किंवा प्राणवायुरेव 'प्राणाः' इति शब्देन नित्यं बहुवचनान्तेनोच्यते; यथा- अप्सरस् शब्देन एकाऽपि विद्याधरी कीर्त्यते|चक्रपाणिः)

इसलिए यहाँ बताए गए आयु, वर्ण, बल इत्यादि इन सब का मूल देहाग्नि को माना गया है, देहाग्नि ही जाठराग्नि या अन्तरग्नि है। यह जाठराग्नि सर्वदा हितकारी सात्म्य भोजन रूपी समिधा की आहुति की अपेक्षा करती है अतः इसमें व्यवस्थित आहार की आहुति यथासमय दी जाए तो यह जाठराग्नि इन आयु इत्यादि सम्पूर्ण भावों का पोषण करती है, इन्हें समभाव में रखती है जिसके परिणामस्वरूप शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं। इसीलिए आचार्य निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि यदि अग्नि शान्त हो जाए अर्थात् नष्ट हो जाए तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, यदि यह अग्नि युक्त रहती है, उपयुक्त रहती है अर्थात् समभाव में रहती है तो व्यक्ति रोगरहित रहता हुआ चिरकाल तक अर्थात् नियत आयु तक जीवित रहता है। यदि यह अग्नि विकृत हो जाती है तो व्यक्ति रोगी हो जाता है, इसीलिए आयुर्वेद में जाठराग्नि को मूल कहा गया है।

यहाँ इस प्रसङ्ग में सैद्धान्तिक रूप में इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि हितकारी सात्म्यस्वरूपक आहार का

सर्वदा प्रयोग यथासमय अग्नि के बल के अनुरूप करने से शरीर को सर्वदा बल प्राप्त होता है, इसीलिए आहार को आयु, वर्ण, बल इत्यादि का प्रदाता तथा जाठराग्नि को इन आयु आदि का हेतु माना गया है|

शरीर पाञ्चभौतिक है जो चेतनाधातु के संसर्ग के कारण आयुष्मान् होता है। इस शरीर का निरन्तर शीर्णन होता है अतः शीर्णन से क्षय को प्राप्त अन्तःस्थ पाञ्चभौतिक अंशों की पूर्ति लोक में स्थित पाञ्चभौतिक तत्त्वों का आहार के माध्यम से ग्रहण कर की जाती है। आयुर्वेद में "सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकम्" कहकर द्रव्यों की पाञ्चभौतिकता स्वीकृत की गई है। इन द्रव्यों को आहार के माध्यम से ग्रहण किया जाता है तो यह जाठराग्नि के माध्यम से परिपाक को प्राप्त होकर शरीर के धातुओं का पोषण करता है, ऐसा चरक कहते हैं, यथा—

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः ।। (च. चि. 15/5)

यहाँ एक और बात ध्यान देने योग्य है कि आयुर्वेद शरीर में त्रयोदश अग्नियों की स्थिति को स्वीकार करता है, ये अग्नियाँ अपने-अपने अनुकूल समान गुण वाले अंशों का पाचन कर शरीरस्थ उन-उन अंशों का पोषण करती हैं, ये अग्नियाँ हैं— जाठराग्नि एक, पाँच महाभूताग्नियाँ और सात धात्वग्नियाँ। इससे यह स्पष्ट है कि आहार के विभिन्न अंशों का पाचन भिन्न-भिन्न अग्नियाँ करती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी आहार के विभिन्न अंशों के पाचन के लिए भिन्न-भिन्न पाचकरसों (एन्जाइम्स) के अस्तित्त्व को स्वीकार करते हैं। चरक ने इसे बहुत ही व्यवस्थित रूप से उपवर्णित करते हुए कहा है कि—

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः।। (च. चि. 15/14)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि आहार के माध्यम से गृहीत द्रव्य अपने गुणों से शरीरस्थ गुणों का पोषण करते हैं। यह पोषण अपनी-अपनी अग्नि से पाचन होने के बाद होता है। ये पृथक्-पृथक् अग्नियाँ जाठराग्नि से बल प्राप्त करती हैं जिसे चरक ने "अन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानम्..." (च. सू. २८/३) इत्यादि वाक्यों से निर्दिष्ट किया है। यह जाठराग्नि ही पाचकाग्नि है जिसे चरक ने अन्तरग्नि कहा है और वाग्भट ने पाचकाग्नि। वाग्भट ने पाचकपित्त को ही अग्नि का प्रमुख स्वरूप मानते हुए इन दोनों को अभेद स्वरूप माना है, व्याख्याकार हेमाद्रि कहते हैं कि—

...पाकादीनामग्निकार्याणां करणादनलसंज्ञयोक्तम्। एतेन पाचकापेक्षया अग्निपित्तयोरभेदः... (हेमाद्रि)

यहाँ यह विचारणीय है कि शरीरस्थ समस्त अग्नियों को बल देने वाली जाठराग्नि को कहाँ से बल प्राप्त होता है। इसके लिए चरक सङ्केत देते हैं कि मात्रा और काल का विचार करते हुए जो हितकारक अन्नपान की समिधा से अन्तरग्नि (जाठराग्नि) में यथासमय (प्रातः एवं सायङ्काल) प्रतिदिन आहुति देता है वह आहिताग्नि (सात्म्यस्वरूप से व्यवस्थापित कर ली है अग्नि जिसने ऐसा व्यक्ति) रोगग्रस्त नहीं होता है, यथा—

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ।।
आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ।।
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने ।
भजन्ते नामयाः केचिद्धाविनोऽप्यन्तरादृते ।। (च. सू. 27/345-347)

सात्म्य-द्रव्यों से व्यवस्थापित अग्नि वाला जो व्यक्ति मात्रा और काल का विचार करते हुए हितकारक अन्नपानरूपी समिधा के द्वारा नित्य ही अन्तरग्नि में (जाठराग्नि में) सदा पथ्यात्मक अन्नपानरूपी समिधा से हवन करता है और प्रतिदिन ब्रह्म का जप करता है और दान देता है ऐसे कल्याणकारी मार्ग का अनुसरण करने वाले एवं पान तथा भोजन में सात्म्य का ज्ञान रखने वाले पुरुष को अन्य कारण के विना (अपथ्य एवं अधर्मरूपी कारण के अभाव से) जन्मान्तर में भी व्याधियाँ नहीं होतीं अर्थात् यदि कारणान्तर हो तो ही व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं अन्यथा नहीं होतीं।

यहाँ पर आचार्य चरक ने शारीरिक और मानसिक व्याधियों के वारण और निवारण के रूप में जाठराग्नि को एवं सात्म्य अन्नपान को महत्त्वपूर्ण माना है इसमें व्यक्ति को "आहिताग्निः" अर्थात् जिसने सात्म्य-द्रव्यों से अग्नि को व्यवस्थित या व्यवस्थापित कर लिया है ऐसा व्यक्ति। इसे इस प्रकार से भी विश्लेषित कर सकते हैं कि "आहिताग्निः" अग्निहोत्री को भी कहते हैं, अतः जिस तरह से अग्निहोत्री स्वस्थचित्त से प्रातः स्वयं हवन करता है उस प्रकार से प्रातःकाल और सायङ्काल जाठराग्नि में हितकर आहार-द्रव्यों की समिधा से हवन करता है उसके शरीरस्थ सभी धात्वादि व्यवस्थित रूप से पुष्ट रहते हुए समभाव में स्थित रहते हैं अतः व्यक्ति पूर्णतः स्वस्थ रहता है।

स्वस्थ व्यक्ति अपने मन पर नियन्त्रण रखते हुए ब्रह्म का जप करता है अर्थात् परम ब्रह्म परमात्मा का ध्यान करता है, चिंतन करता है तथा यथाशक्ति सत्पात्र में दान करता है ऐसा व्यक्ति जन्मान्तर में भी शारीरिक और मानसिक रोगों से सर्वथा मुक्त रहता है। यहाँ दान का तात्पर्य सभी प्रकार के दान हैं, जिस व्यक्ति के पास जो श्रेष्ठ धर्म, अर्थ, विद्या आदि हैं उन्हें वह यथोचित रूप में दान करता है तो उसका मन भी सर्वदा क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य इत्यादि

विकारपरक भावों से मुक्त रहता है तथा ब्रह्म का ध्यान, जप एवं दान से अर्जित धर्म के प्रभाव से उसे शारीरिक और मानसिक रोग जन्मान्तर में भी नहीं होते लेकिन इसी के साथ आचार्य यह भी कहते हैं कि "अन्तरादृते" अर्थात् कारण के विना उस व्यक्ति के रोग नहीं होते, कारणों में शरीर के लिए अपथ्यसेवन और मन के लिए अधर्म में प्रवृत्ति को रोग का कारण माना है।

आचार्य चरक ने यहाँ आहार के ग्रहण करने में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों और व्यवस्थाओं को महत्त्वपूर्ण माना है वे कहते हैं की अन्तरग्नि अर्थात् जाठराग्नि पूर्णरूपेण व्यवस्थित हो और यह व्यवस्थित स्वरूप सर्वदा हितकारी सात्म्य-द्रव्यों के सेवन से हो तभी श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त होते हैं। सात्म्य क्या है इसे आयुर्वेद में विस्तार से विश्लेषित किया गया है इसके विस्तृत विवेचन के लिए एक पृथक् लेख अपेक्षित है, यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिसके सेवन से शरीर को सुख प्राप्त होता हो वह तात्कालिक रूप से या अनुबन्धरूप में किसी प्रकार की हानि नहीं करता हो उसका सात्म्यस्वरूप में सेवन किया जाना चाहिए। यद्यपि यह सात्म्यस्वरूप अहितकर द्रव्यों का भी हो सकता है, इसलिए सर्वदा हित कर द्रव्यों का ही सेवन उपयुक्त है | इसीलिए आचार्य चरक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जाठराग्नि का स्वरूप सात्म्य-द्रव्यों से व्यवस्थापित होना चाहिए।

यद्यपि आहार का हितकारी स्वरूप और सात्म्यभाव पृथक् से विवेचन की अपेक्षा रखते हैं फिर भी इस क्रम में (इस प्रसङ्ग में) इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि देश, काल आदि की स्थिति के अनुसार परम्परा से पृथक्-पृथक् स्थलों पर देशानुरूप और ऋतु के अनुरूप भोजन की जो पारम्परिक व्यवस्था है उसको यथावत् रूप में सेवन करना ही हितकारक है। वर्तमानकाल में विभिन्न देशों में प्रयुक्त होने वाले उन देशों के अनुकूल आहार आदि का विना सोचे समझे सर्वत्र प्रयोग होने लगा है, वह स्वास्थ्य के लिए सर्वथा हानिकारक है, इसलिए अन्तरग्नि में निरन्तर विधिविहित गृहीत आहार की समिधा से नियमित रूप से आवश्यक रूप से की जाने वाली शरीरस्थ हवन की प्रक्रिया को आहिताग्नि व्यक्ति विधिवत् सम्पन्न करे, जिसको साङ्केतिक रूप में आचार्य ने निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि- हिताभिर्जुहुयान्नित्यम्।